आर्धांश तक बड़ा प्रबल रहा है। भारत में भी अभी यह प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में प्रकट है और यही कारण है यहाँ का बुद्धिजीवी वर्ग अपने–आप को 'या तो यह या वह': या तो पश्चिमी सभ्यता–संस्कृति या भारतीय परम्परा : के द्वन्द्व से मुक्त नहीं कर पाता, और फलतः या तो उसे आत्म–वंचना में पड़ना होता है या फिर विशेष प्रकार की उपलब्धियों (भौतिक सफलता और सम्पन्नता) से वंचित रहना होता है। किन्तु ये दोनों ही आवश्यक नहीं हैं, और वस्तुतः भारतीय संस्कृति के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसमें उत्पन्न होने वाला प्रत्येक गतिरोध इस बात का सूचक है कि उसकी परम्परा जारी रखने वाले बुद्धिजीवियों ने क़हीं–न–कहीं उसकी व्याख्या में गलती की है और उसे ठीक किया जाना चाहिए जिससे कि उसमें नये मूल्यों की उपलब्धि का मार्ग खुल सके। यह द्रष्टव्य है कि आध्यात्मिकता के राजमार्ग पर अग्रसर मन के रथ के सारथी कृष्ण भी अपने नर–रूप अर्जुन का शर–संधान युद्ध–जय और राज्योपभोग (सफलता और सम्पन्नता) के लिए ही चाहते थे।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर – पृ0 141*
2. *वही0 पृ0 141*
3. *वही0 पृ0 142*
4. *वही0 पृ0 174*
5. *वही0 पृ0 175*
6. *वही0 पृ0 54*
7. *वही0 पृ0 32*
8. *वही0 पृ0 33*
9. *वही0 पृ0 32*

दयाकृष्ण का समाज-दार्शनिक विमर्श

यशदेव शल्य

प्रोफेसर दयाकृष्ण की गणना समकालीन भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रथम कोटि के बहुत थोड़े से विचारकों में की जाती है, किन्तु वास्तव में वे उनमें भी विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्हें यह विशिष्टता उनके दो गुण देते हैं। एक है नितान्त अपारंपरिकता, सर्जनात्मकता और सहज मूलगामिता। अपनी इस प्रकृति के कारण दया जी नित्य नवीन और आधारभूत प्रश्न उठा पाते हैं। यह वास्तव में उनके व्यक्तित्व का ही गुण है, केवल दार्शनिक विचार का नहीं, जो उन्हें निराग्रही, सरल और दंभ–रहित बनाता है। उनकी दूसरी विशेषता दृष्टि की व्यापकता और अन्यान्य विषयों को समझने और उन पर विचार करने की सामर्थ्य है। उन्होंने दर्शन के परम्परागत प्रश्नों पर विचार करने के अतिरिक्त समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति, प्रशासन, कला, भारत–विद्या आदि अनेक विषयों पर विचार किया है। विभिन्न विषयों पर विचार की सामर्थ्य वैसी बात नहीं है जैसी एक मकान में अनेक कमरे होना या एक डिब्बे में अनेक रंगों की गोलियाँ होना। यह सामर्थ्य दृष्टि की व्यापकता में प्रतिफलित होती है और विषयों के ऐसे आयाम और स्तर प्रकट करती है जो इस सामर्थ्य से रहित दृष्टि के लिए अगम्य होते हैं। अथवा कहें, ज्ञान में प्रत्येक विषय दूसरे को आलोकित करता है और प्रत्येक अन्य विषय से आने वाला आलोक प्रस्तुत विषय में नये आयामों को प्रकट करता है। दृष्टि की व्यापकता क़ा यही अर्थ है। जिस दृष्टि में ऐसा नहीं होता वह मात्र संग्रहात्मक–विवरणात्मक होती है। स्पष्टतः दयाजी इस दूसरे प्रकार के लोगों में नहीं हैं, बल्कि प्रथम प्रकार के लोगों में भी अग्रणी हैं।

मुझे दयाजी के बहुत से लेख और पुस्तकें पढ़ने का और बहुत बार उनके साथ परिचर्चाओं में भाग लेने का अवसर मिला है। मैं अधिकांशतः अपने को उनसे असहमत पाता रहा हूँ, कभी–कभी तो झुँझलाहट भी होती है कि "ये भी क्या बात करते हैं।" किन्तु वास्तव में यही दयाजी कों प्रिय भी है–दूसरे को छेड़ना, उकसाना और कुछ अलग सोचने को मजबूर करना। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 'दि नेचर ऑफ फिलॉसफ़ी' में लिखा था कि 'दर्शन का कार्य नये प्रश्न उठाना है,' और यही उनका मत आज भी है क़िन्तु मेरी यह असहमति उनकी मूल दृष्टि से उतनी नहीं होती जितनी उस दृष्टि की व्याख्या के कुछ सूत्रों से होती है, यद्यपि कभी–कभी मूल दृष्टि से भी होती है। उदाहरण के लिए समाजदर्शन

पर उनकी पहली पुस्तक ''सोसल फिलॉसफी: पास्ट एण्ड फ्यूचर''[1] तथा समाजदर्शन विषयक उनकी दूसरी पुस्तक 'कंसिडरेशंस् टूवार्ड्स थ्योरी ऑफ चेंज' में व्यक्त दयाजी की मूल दृष्टि से प्रायः मेरे मतैक्य हैं, उस दृष्टि की व्याख्या से भी मेरा प्रायः मतैक्य ही है, किन्तु उसके कुछ सूत्रों से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ, यहाँ मैं मुख्य रूप से उन स्थलों की ही चर्चा करूँगा, दयाजी को कबीर के एक दोहे–'निन्दक नियरे राखिये' का स्मरण कराते हुए।

दयाजी ने अपनी इन पुस्तकों में समाज के स्वरूप–विषयक निम्न प्रश्न उठाये हैं – क्या यह मनुष्य के एतद्विषयक विचार या अवधारणा–प्रकार से पूर्णतः स्वतंत्र सत्व है या कि यह इससे बहुत गहराई से प्रभावित होने वाला सत्व है? या कि वह इस विचार का ही फल होता है? दूसरे शब्दों में, क्या इसका कोई अपना तत्त्व भी है या कि यह उसी प्रकार तत्त्व से रहित है जिस प्रकार अस्तित्ववादियों के अनुसार मानव–व्यक्ति तत्त्व से रहित है और उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के असंख्य चयनों से घटित या रचित होता है जिस प्रकार मानव–व्यक्ति अपने चयन से, अपने वरण से घटित या रचित होता है? इन प्रश्नों का दयाजी का उत्तर है कि समाज व्यक्तियों के आत्मचेतन चयनों का फल होता है और परिणामतः यह एक अवस्तु या असत्व है। ''चयन का फल'' होने से यह 'प्रकृति' से विपरीत हो जाता है, क्योंकि 'प्रकृति' का उनके अनुसार अर्थ ही है ऐसा सत्व जो मनुष्य के विचार और अवधारणों के लिए प्रदत्त है, उनसे प्रभावित या रचित होने वाला नहीं। विचार–सृष्ट होने से यह वही रूप लेता है जैसी इसकी कल्पना होती है, जैसा अवधारण होता है। दयाजी इस विचार को आगे बढ़ाते हुए प्रश्न करते हैं, उन क्षेत्रों में अवधारण–क्रिया अनिवार्यतः मूल्यात्मक होती है, यह वस्तु की घटक होती है, हम कहना चाहेंगे कि यह वस्तु को उसके प्रतिमान के अनुसार देखती है और उसके अनुसार ही घटित करती है। दूसरे शब्दों में कहें, इसका प्रतिमान ही इसका सत्व होता है, प्रस्तुत–रूपता नहीं। सोसल फिलॉसफी[2] पुस्तक के प्रथम व्याख्यान के अन्त में दयाजी व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न उठाते हैं और कहते हैं ''यह प्रश्न कि समाज क्या है इस प्रश्न से निकट रूप से सम्बन्धित है '' कि व्यक्ति क्या है?'' और तब वे कहते हैं कि ''सब सर्जनों का स्रोत व्यक्ति ही होता है; समाज केवल व्यक्ति के इस कार्य के क्रियान्वयन के लिए साधन बनता है।'' उनके अनुसार प्रायः ही समाज– वैज्ञानिक समाज को मुख्य और व्यक्ति तथा उसके मूल्यान्वेषण अथवा सृजन–कर्म को उसमें साधन–भूत तथा गौण मानते हैं, और क्योंकि हम ऐसे सत्व हैं कि हमारे विचार हमारा सृजन करते हैं इसलिए इन दो अवधारण–रूपों में चुनाव मूल्यात्मक चुनाव ही हो जाता है। ऐसी अवस्था में इसमें ज्ञानात्मक अन्वेषण के लिए यही अवकाश रह जाता है कि विभिन्न अवधारणों के मूल्यात्मक परिणामों को स्पष्ट करके संभाव्य उपलब्धियों और विकृतियों को प्रकट किया जाय।

यहाँ कुछ प्रश्न विचारणीय हैं : प्रथम यह कि क्या समाज इस प्रकार का सत्व है कि वह ज्ञान–विषय नहीं होकर आदर्श–कल्पना या मूल्यात्मक रूप से अक्षिप्त मात्र है ? दूसरे, यदि यह आक्षिप्त मात्र है तो इसका आक्षेपक कौन है ? व्यक्ति या कि स्वयं समाज ही ? तीसरे क्या प्रकृति अपनी अवधारणा से स्वतंत्र सत्व है ? चतुर्थ, यदि वह अवधारणा–

सापेक्ष होने पर भी मूल्यात्मक रूप से आक्षिप्त नहीं है तो क्या समाज भी मूल्य–निरपेक्ष अवधारणात्मक सत्व नहीं हो सकता ? पाँचवें, यदि समाज को मूल्यात्मक रूप से आक्षिप्त ही मान लिया जाय तो भी क्या वह उसी प्रकार का सत्व है जिस प्रकार का सत्व मानव व्यक्ति है ? छठे, समाज को व्यक्ति के आत्म–चरितार्थन का साधन कहने का क्या अर्थ है, क्या साधन के रूप में वह व्यक्ति से स्वतंत्र सत्व है ? या कि व्यक्ति–समवाय का फलन मात्र है ? दया जी ने इन व्याख्यानों में इनमें से किसी भी प्रश्न पर स्पष्ट विचार नहीं किया है, किन्तु अपनी दूसरी पुस्तक 'कंसिडरेशंस्....' में इनमें से पहले तीन प्रश्नों पर विचार किया है, यद्यपि वहाँ भी पर्याप्त और व्यवस्थित विचार नहीं किया गया है। उदाहरणत कंसिडरेशंस् में वे कहते हैं :

''तब समाज इस अर्थ में शिल्प के समान भी है कि यह अनिवार्यतः (मनुष्य की) अस्तित्व–रक्षा की समस्याओं से सम्बन्धित है जो समस्याएँ अन्य सब प्रश्नों से प्रथम होती हैं, और यह महान कला–कृतियों के समान भी है, जिनका सम्बन्ध मूल्यों और आदर्शों से होता है जिनके बिना ये निस्सत्व होती हैं। किन्तु यह इन दोनों से इस बात में भिन्न भी है कि यह पूर्ण कृति नहीं होता जिसे देश में सब दृष्टि–बिन्दुओं से देखा जा सकता है, अथवा जिसे इनमें रूचि रखने वाला कोई भी व्यक्ति इसको पूर्णता में जान सकता है। संस्कृतियों और सभ्यताओं के इतिहासकार इन्हें इस रूप में (इनकी पूर्णता में) भी देख सकते हैं, विशेष रूप से तब जब ये अतीत और मृत हो चुकी होती हैं। किन्तु ये (समाज) अपने ढंग का एक अनुठा विषय है, और यद्यपि इसमें इन सब विषयों के कुछ गुण हैं किन्तु यह उनसे कुछ मूलभूत गुणों में भिन्न भी है। प्रकृति के कारण–कार्यात्मक सन्दर्भ मे प्रतिष्ठित, अपने सदस्यों की जीवन–रक्षा और संवृद्धि के प्रति चिन्तित, केवल अपने स्वप्नों में मुदित और केवल अपने आदर्श के अनुसरण में गर्वित यह उन निरन्तर अग्रसर सन्ततियो की आत्मचेतन कृति होता है जो इससे एक–साथ प्रेम भी करती हैं और इससे भिन्न भी होती हैं।''[99]

दयाजी द्वारा समाज की यह परिभाषा और निरूपण सम्भवतः उनका स्पष्टतम और सर्वाधिक प्रतिनिधि निरूपण है। सम्भवतः इसे इस अर्थ में पूर्ण भी कहा जा सकता है कि वे इस विषय पर इससे बाहर प्रायः और कुछ भी नहीं कहते । किन्तु यह निरूपण कितना अयुक्त और आत्म–प्रसंगत है यह देखना भी सतर्क दर्शन के लिए कठिन नहीं है : इस उद्धरण के आरंभ में दयाजी समाज को शिल्प–कृति और कला–कृति से इस आधार पर भिन्न कहते हैं कि यह इन दो प्रकार की कृतियों के समान आद्यन्तयुक्त नहीं होता, इस आधार पर नहीं कि एक व्यक्ति–कृत होती है और दूसरी व्यक्तिकृत नहीं होती। किन्तु इसके तुरन्त बाद वे अतीत सभ्यताओं और समाजों को आद्यन्तयुक्त पाते हैं तब कला–कृति आदि से भिन्नता के लिए दूसरा आधार खोजते हैं कि एक जीवित समाज स्वयं अपने को अन्तवन्त के रूप में नहीं देखता। किन्तु कलाकृति भी अपने आदि, मध्य और अन्त को कहाँ देखती है? स्वयं को देखना या स्वयं का अवधारण करना आत्मचेतन विषयी का गुण है, कृति का नहीं। कहा जा सकता है कि आत्मचेतन भी अपना अवधारण स्वयं करता है और

इस कारण वह स्वयं भी अपनी कृति होता है। हमने इस मत का प्रतिपादन अन्यत्र[3] किया है और तब व्यक्ति और संस्कृति दोनों को आत्मकृत विषयी कहा है। किन्तु दयाजी ऐसा नहीं कहते। वे समाज को अंशतः कला–विषय के रूप में और अंशतः उससे भिन्न विषय के रूप में ही देखते हैं। किन्तु इसी अनुच्छेद में थोड़ा आगे चलकर वे पुनः समाज को विषय कहते हुए उसके सम्बन्ध में ऐसे बात करने लगते हैं जैसे मानो वह विषयी हो "अपने सदस्यों की जीवन–रक्षा के लिए चिन्तित" आदि। किन्तु उन्होंने समाज को कहीं विषयी नहीं कहा है, परिणामतः उनके उपर्युक्त वाक्य काव्यात्मक उत्प्रेक्षा मात्र प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से दयाजी –'सोसल फिलॉसफी' पुस्तक में अधिक आत्म–संगत हैं क्योंकि इसमें वे समाज को मानव–विषयी के आत्मसर्जन के अनुरूप आत्मसृष्ट कहते हैं। किन्तु सही बात यह है कि वे इनमें यही साम्य देखते हैं कि इन दोनों का सत्व तद्विषयक विचार से प्रभावित होता हैं। इसी से वे साथ ही समाज को मानव–व्यक्तियों के विचारों, अवधारणाओं या चयनों का संयुक्त फल भी कहते हैं। अब, अनेक व्यक्तियों की अवधारणाओं और चयनों का संयुक्त फल आत्मसृष्ट नहीं हो सकता। सच पूछा जाय तो एक व्यक्ति के सब कर्म–फल भी आत्मचेतन नहीं होते, तब उन्हें आत्मसृष्ट कहने का तो प्रश्न ही कहाँ रहता है, और यदि कुछ अनेक व्यक्तियों के चयन का फल हो तब तो फिर बात ही क्या है! उदाहरण के लिए कौन–सी पुस्तकें मेरे पुस्तकालय में हों, अथवा कौन सा कपड़ा मेरे तन पर हो यह आत्मचेतन चयन है किन्तु मेरे पुस्तकालय या कमीज आत्मचेतन नहीं हैं। और यदि थोड़ा गहराई में जाएँ तब तो हम पायेंगे कि हमारे बहुत से चयन भी 'वास्तव में हमारे चयन' नहीं होते–हम बड़े प्रयत्न से कोई कपड़ा चुनकर लाते हैं किन्तु घर में आकर अनुभव करते हैं कि यह तो ठीक नहीं है, इसका रंग पता नहीं क्यों वहाँ मुझे जँच गया! और यदि यह चयन वस्तु का नहीं होकर दूसरे व्यक्ति का हो–मित्र का, पति या पत्नी का – तब तो बहुत बार जो फल होता है उसे सब जानते ही हैं : हम पाते हैं, यह "वह व्यक्ति" नहीं है "जो मैंने देखा था," या "जो समझा था।" और वास्तव में होता यह है कि हमने अपनी चाह, भावना या एषणा को ही नहीं समझा होता। और सबसे प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण "आत्मचेतन चयनों का फल कहना" भोले भाव की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है। दूसरे 'आत्मचेतन चयन का फल' और 'आत्म–सर्जक' एक ही बात नहीं है, क्योंकि मेरा पुस्तकालय जबकि आत्मचेतन चयन का फल होता है, यह आत्म–सर्जक नहीं होता, आत्म–सर्जक केवल मानव–व्यक्ति होता है, संभवतः संस्कृति को भी कहा जा सकता है, किन्तु पुस्तकालय को नहीं, समाज को तो और भी नहीं। किन्तु व्यक्ति भी किस अर्थ में आत्मसृष्ट होता है, दयाजी ने कहीं स्पष्ट नहीं किया–मनोविश्लेषकों के अनुसार तो हमारे व्यक्तित्व का भी अधिकांश अचेतन, अवचेतन और अर्धचेतन मानस से घटित है। तीसरे, 'अवधारणाओं का फल' और 'चयन का फल' एक ही बात नहीं है। क्योंकि जैसाकि हम आगे देखेंगे, प्रकृति को भी अवधारणाओं का फल तो कहा जा सकता है किन्तु चयनों का फल नहीं कहा जा सकता।

समाज को 'प्रकृति–भिन्न' कहने से दयाजी का एक तथा मुख्य प्रयोजन इसे ज्ञान

विषय से भिन्न मूल्यान्वेष्य कहना भी है। किन्तु यह विचारणीय है कि क्या केवल प्रक् ही ज्ञान–विषय होती है ? और क्या मूल्यान्वेष्य साथ ही ज्ञान–विषय भी नहीं होता? द्रष्ट है कि स्वयं दयाजी ने ही अपने प्रथम व्याख्यान के अन्त में समाजविज्ञान का कार्य सम विषयक विभिन्न मूल्यात्मक अवधारणाओं के निहित आपादनों (इम्प्लीकेशंस्) को प्र करना कहा है और इस कर्म को ज्ञानात्मक (कॉग्नीटिव) कहा है। इतना ही नहीं, अ अन्तिम व्याख्यान में उन्होंने इस कर्म की ज्ञानात्मकता और मूल्य–निरपेक्षता पर बहुत ब दिया है। किन्तु निश्चय ही इस ज्ञान के विषय को वे प्राकृतिक नहीं कहेंगे। और पुनः अ अन्तिम व्याख्यान के अन्त में उन्होंने आत्मचेतन को स्वयं आत्म का विषयकरण कहा इस विषयकृत आत्मा को भी वे प्राकृतिक नहीं कहेंगे, यह स्पष्ट है। जैसाकि हमने अन्य देखा है, वास्तव में यही विषय आद्य मूल्य और अन्य सब मूल्यों का आधार है। जहाँ त समाज को आत्मचेतन कर्म की कृति कहने का सम्बन्ध है, इसकी अयुक्तता हमने ऊपर इ चयन का फल कहने की अयुक्तता के प्रसंग में दिखायी ही है किन्तु समाज वास्तव में ए और बहुत गहरे अर्थ में मनुष्य के आत्मचेतन कर्म से कृत नहीं है : जैसाकि हमने अन्य दिखाया है, यह मानव–चेतना की अतिक्रामी संरचना में अंतर्निहित है।

दयाजी के समाजविषयक प्रतिपादनों में सबसे आधारभूत प्रतिपादन उसका अप्राकृति होना है, क्योंकि प्रकृति उनके अनुसार विचार या अवधारणा से स्वतंत्र सत्व है जबा समाज विचार–कृत, अवधारणानुसारी और भाव्य सत्व है। किन्तु वे प्रकृति के स्वरूप प कहीं भी गहराई से विचार नहीं करते। प्रकृति के सम्बन्ध में वे केवल इतना ही कहते कि उसके सम्बन्ध में "हम यह कभी नहीं कहते कि वह कैसी होनी चाहिए, वह जैसी उसे हम वैसा ही स्वीकार करते हैं।" किन्तु यह उतना सही नहीं है जितना प्रथम दृष्टि प्रतीत होता है। सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि वे नेचर (प्रकृति) शब्द को बड़े 'एन' अक्षर क साथ लिखते हैं। जिसका अर्थ है कि वे इस बात पर बल देना चाहते हैं कि इस शब्द व एक सत्व के अर्थ में ही समझा जाय, विभिन्न वस्तुओं या स्थितियों के संघात के अर्थ नहीं। इसी प्रकार दयाजी ने 'मैंन' शब्द भी बड़े 'एम' अक्षर के साथ लिखा है और यह कह स्पष्ट नहीं किया है कि इससे उनका क्या अर्थ है –व्यक्ति, जाति, चेतना के स्तर व स्तर–विशेष, अथवा कुछ और ? यदि इसे विट्गेन्स्टाइन के "फैमिली रिजेम्बलेंस" के अ में लिया जाय जैसा कि दयाजी ने लिया भी है[78] तो मनुष्य व्यक्ति से अधिक कुछ हो भ नहीं सकता, और तब बड़े 'एम' अक्षर का प्रयोग निरर्थक हो जाता है। किन्तु विट्गेन्स्टाइ के लिए तो 'प्रकृति' शब्द भी उतना ही वाच्य–रहित होगा जितना 'मनुष्य' शब्द, किन्तु इस प्रसंग को यहाँ छोड़ते हुए हम प्रकृति की अवधारणा–निरपेक्षता के प्रश्न पर ही संक्षेप म विचार करेंगे।

दयाजी ने प्रकृति की विचार–सापेक्षता या अवधारणा–सापेक्षता की सम्भावना व निराकरण के सन्दर्भ में एक स्थान पर परमाणु–भौतिकी का उल्लेख किया है। अन्यत्र व अनिर्मित भौतिक वस्तुओं–मिट्टी, जल, वायु, आदि का और निर्मित भौतिक वस्तुओं–मेज कुर्सी आदि का प्रकृति के रूप में उल्लेख करते हैं, किन्तु क्या ये सब 'प्रकृति' कही ज

सकती हैं? ये सब अधिक से अधिक प्राकृतिक तो कही जा सकती हैं (यद्यपि निर्मित वस्तुओं को, उनके निर्मित पक्ष की उपेक्षा किये बिना, प्राकृतिक भी कैसे कहा जा सकता है यह बात हमें समझ में नहीं आती) किन्तु ये प्रकृति कैसे कही जा सकती हैं? अब जहाँ तक प्राकृतिक का सम्बन्ध है, मानसिक घटनाएँ उतनी ही प्राकृतिक हैं जितनी भौतिक घटनाएँ, और मानसिक ही वह क्षेत्र है जिसे दयाजी विचार से निर्धार्य के रूप में देख रहे हैं। जहाँ तक भौतिक वस्तुओं का सम्बन्ध है, दिङ्नाग और कांट ने इन वस्तुओं को भी क्रमशः अतिक्रामी वासनाओं और वर्गणाओं से रचित दिखाया है। दयाजी इसकी उपेक्षा करते हैं, जिसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि ये अतिक्रामी होने से आत्मचेतन, स्वेच्छया नियुक्त विचार की विषय नहीं हैं। किन्तु इस विचार की विषयभूत प्रकृति भी नितान्त निरपेक्ष सत्व नहीं है जिसका प्रमाण विभिन्न संस्कृतियों में, और एक ही संस्कृति के इतिहास के विभिन्न चरणों में इसकी अवधारणाओं का विभिन्न होना है।[6] किन्तु यहाँ दयाजी कह सकते हैं कि सब अवधारणाओं में प्रकृति 'यथातथ' के रूप में, जैसा है वैसा ही' के रूप में ही देखी गई है, 'जैसा होना चाहिए वैसा' के रूप में नहीं। किन्तु ऐसा भी नहीं है, यांत्रिकी का संपूर्ण इतिहास प्रकृति को 'जैसा होना चाहिए' के रूप में ग्रहण का इतिहास ही है। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि प्रकृति यांत्रिकी के लिए उपादान है और उपादान को उसके स्वरूप में निरपेक्षतः समझ कर ही उसका उपयोग करना होता है। किन्तु तब इस दृष्टि से प्रकृति और समाज में मौलिक अन्तर नहीं रहता–समाज को हम अवश्य ही 'जैसा होना चाहिए' इस अपेक्षा से ही देखते हैं किन्तु इस अपेक्षा की पूरी संरचना इस प्रकार है : ''यह जैसा है इसे वैसा नहीं होना चाहिए।'' अवश्य यांत्रिकी और कला में अन्तर है किन्तु अवधारण–सापेक्षता और विचार–निर्धायता की दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। यदि हम स्वयं कलाओं में भौतिक के उपयोग की ओर भी ध्यान दें–मूर्ति–कला में पत्थर–मिट्टी, चित्रकला में रंग और संगीत में ध्वनि, और दूसरी ओर क्रमशः हाथ, कूँची और कंठ आदि–तो स्थिति और भी बदल जाती है।

प्राकृतिक का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष कारणात्मकता है। अब, कारणात्मकता सिद्धान्त के रूप में विचार–निर्धार्यता की और व्यवहार में प्रस्तुत और विशिष्ट के अप्रस्तुत और सामान्य में विलय की वाचक होती है। उदाहरणतः लॉन में पड़ा यह पत्थर, आँख में छलक आया यह आंसू, मन में सहसा उभर आयी यह उद्विग्नता 'क्यों' प्रश्न उत्पन्न होते ही अपनी प्रस्तुत स्पष्टता और विशिष्टता खोकर विचार–ग्राह्य और सामान्य घटनाओं की शृंखला में एक अविशिष्ट कड़ी हो जाते हैं, और इन सबसे ऊपर है प्राकृतिक वस्तुओं की अधिष्ठात्री देवी (व्यक्ति–नाम–वाच्य प्रकृति) का सत्व जो केवल शुद्ध विचार–ग्राह्य विचार–रचित होता है। यहाँ दयाजी कह सकते हैं कि हमारा प्रकृति–विषयक विचार'–भेद प्रकृति के स्वरूप को भिन्न नहीं करता, विचारक के स्वरूप को भिन्न करता है, वह विचारक को वैज्ञानिक, पौराणिक या कवि बनाता है, प्रकृति तो वही रहती है। किन्तु ऐसा कहना प्रकृति को केवल विचार के और अधिक सूक्ष्म स्तर का विषय बनाना होगा, विचार–निरपेक्ष वस्तु बनाना नहीं।

इस प्रकार दयाजी के समाज के स्वरूप–विषयक दृष्टि के विवेचन में बहुत से सू उतने युक्त नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि उनकी दृष्टि में कोई युक्तता है ही नहीं, उनका मू बोध वास्तव में सही है, कि समाज प्राकृतिक विज्ञानों के विधि का विषय नहीं हो सक 'सामाजिक यांत्रिकी' जैसे पद भ्रामक और अहितकर हैं, क्योंकि समाज आदर्शानुसरण अ मूल्यान्वेषण का क्षेत्र है, किन्तु वे यह सब नहीं कहकर समाज और प्रकृति की विपरीत पर ही बल देते हैं। वे यह भूल ही जाते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक की प्रकृति एक विश पूर्वाग्रहमूलक प्रकृति ही है, अन्यथा प्राचीनों द्वारा प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु देवताधिष्ठित देखी गई है, वनस्पतियाँ और पशु–पक्षी मनुष्य के ही क्रम में देखे गए हैं।

समाज को मूल्यात्मक सत्व के रूप में देखने के समान ही उनकी यह दृष्टि मार्मिक है कि 'मनुष्य' और समाज का स्वरूप इस बात में बहुत कुछ समान है कि दो आत्मसर्जनात्मक हैं।' किन्तु वे यह नहीं बताते कि ऐसा कैसे है? इतना ही नहीं, मनुष्य विशेषतः बड़े आद्यक्षर द्वारा नामित मनुष्य से, उनका क्या अभिप्राय है यह भी वे स्पष्ट न करते। यह 'मनुष्य' पद 'समाज' को अपने अर्थ में कैसे सम्मिलित नहीं करता? इसी प्रक क्या 'समाज' और 'संस्कृति' पद समानार्थक हैं? यदि नहीं, जैसाकि स्पष्ट है कि वे न हैं, तो क्या 'आत्मसर्जक' विशेषण 'समाज' के बजाय 'संस्कृति' का होना उचित नहीं

दूसरे व्याख्यान का शीर्षक है ''दो अवांछित परिणाम'' (टू प्रेडिकामेंट्स)। अवांछित परिणाम दो अतिवादों के हैं। एक अतिवाद है समाज–केन्द्रकता का और दू आत्म–केन्द्रकता का। 'आत्म' से यहाँ अभिप्राय वैयक्तिक 'स्व' से नहीं होकर 'आत्मा' है। दयाजी के अनुसार प्रथम अतिवाद पाश्चात्य समाज की विशेषता है औद दू अतिवाद भारतीय समाज की। प्रथम अतिवाद का मूल यह मान्यता है कि 'व्यक्ति जो कुछ होता है वह समाज की बदौलत, समाज के कारण ही होता है, यहाँ तक कि उस मनुष्य होना तक समाज के कारण ही सम्भव होता है। दूसरे शब्दों में, वह पूरी तरह सम से निर्धारित और निर्मित होता है। इसलिए, इस मान्यता के अनुसार, व्यक्ति का यह क है कि वह अपना सब कुछ समाज को अर्पित कर दे और समाज के शुभाशुभ के लिए उ को उत्तरदायी माने। दयाजी के अनुसार, इस मान्यता में स्पष्टतः अन्तर्विरोध है–व्यक्ति पूर्णतः समाज से निर्धारित, उसका कार्य, है तो उसके विचार, भावनाएँ और संव स्वतंत्र नहीं हो सकते, वह समाज रूपी सागर का एक कण मात्र रह जाता है। अब, यह बात स्वीकार की जाये तो व्यक्ति को उत्तरदायी कैसे कहा जा सकता है? क्य 'उत्तरदायित्व' अनिर्धारितता को, अकारितता को, पूर्वकल्पित करता है।' पश्चिम के अतिवादी चिन्तन के उदाहरणों के रूप में दयाजी ''अपोलोजी'' संवाद के सुकरात ईसाइयों की आद्य पाप (ओरिजनल सिन) की, और दूसरों के पापों के लिए भी उत्तर होने की अवधारणाओं का, तथा मार्क्सवाद की व्यक्ति के एक साथ इतिहास की उपज भविष्य के लिए उत्तरदायी होने की अवधारणा का उल्लेख करते हैं। इस अतिवाद अन्तर्विरोध की चर्चा दयाजी ने 'कंसिडरेशंस' पुस्तक में भी की है और वहाँ सामा उत्तरदायित्व का निरूपण इस प्रकार किया है कि हम जो कुछ भी करते हैं, बल्कि

हमारे जाने–अनजाने हमसे जो कुछ भी घटित होता है, उसके सामाजिक परिणाम होते हैं, जो देश और काल की असीमता के कारण असीम होते हैं। इसे वे एक 'मिथ' कहते हैं जिसको उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करने के उसके कर्तव्य और भगवत्कृपा–विषयक कैथोलिक ईसाई–सिद्धान्त का उल्लेख भी करते हैं। यह भी उनके अनुसार उसी प्रकार की एक अन्तर्विरोध–पूर्ण स्थिति है।

दयाजी का इस अतिवाद का और इसके अन्तर्विरोध का निरूपण, हमारे विचार में, बहुत सतही है और उसी स्तर पर वह ठीक भी लगता है, किन्तु थोड़ा गहराई से देखने पर ये तथाकथित अतिवाद और अन्तर्विरोध वास्तविक नहीं रहते। इसके लिए हम यहाँ तीनों उदाहरणों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

सुकरात का उदाहरण दयाजी ने समाज–केन्द्रकतापरक अतिवाद के लिए दिया है। सुकरात को एथेंस के युवकों को बहकाने के लिए न्यायालय ने मृत्युदंड दिया था। सुकरात इस निर्णय को असत्य पर आधारित मानता था और न्यायपालकों को भ्रांत मानता था। ऐसी अवस्था में उसे, दयाजी के अनुसार, जेल से भागने का अवसर मिलने पर भाग जाना चाहिए था। किन्तु वह नहीं भागा उस कानून की रक्षा के लिए जिसे वह पूर्ण रूप से अस्वीकार करता था। यह दयाजी के अनुसार स्पष्टतः सामाजिकता को परमता का स्थान देना है। किन्तु यह सही नहीं है। सुकरात के निर्णय के वास्तविक तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए हम महात्मा बुद्ध का उदाहरण देंगे जो दयाजी ने आत्मकेन्द्रकता के अतिवाद के रूप में दिये है : बुद्ध राज्य, पत्नी और बच्चे को छोड़कर आत्म–साधना के लिए चले गए थे। इस पर न केवल उन्हें किसी ने अनुचित नहीं कहा बल्कि उन्हें उच्चतम सम्मान दिया। किन्तु मान लें कि वे बिना दोष के जेल में डाल दिये जाते और इस कारण वे जेल से भाग जाते, तो क्या उन्हें कोई इस आत्मकेन्द्रित समाज में भी आदर देता? हमारा विचार है कि वह नहीं देता, क्योंकि इससे किसी मूल्य की रक्षा नहीं होती : अब, यह दूसरा प्रसंग प्रथम से मौलिक रूप से भिन्न है–पहला प्रसंग उच्चतर मूल्य के त्याग का है और दूसरा मूल्य के लिए आत्म बलिदान करने या उसे मूल्य स्वीकार नहीं करने की बीच चुनाव का। कोई कह सकता है कि यदि कानून या उसके निर्णायक अधिकारी भ्रांत हैं तो उस निर्णय को स्वीकार करने में क्या औचित्य है? इसका उत्तर होगा कि मूल्य उस भ्रांति का निराकरण करने में है, अपने शरीर की रक्षा में नहीं। इसका उत्तर हो सकता कि इस भ्रांति का निराकरण जेल से भाग कर और तब लोगों को समझा कर भी किया जा सकता था, ऐसा करने से आत्मरक्षा के मूल्य का भी अनुसरण होता और भ्रांति का निराकरण भी। इसका उत्तर होगा कि सुकरात के आत्मबलिदान ने सुकरात को नैतिकता की उच्चतम भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया, भागने का कर्म उसे निम्नतम् भूमि पर नहीं तो लोक–साधारण भूमि पर तो ला ही देता–केवल दूसरों की दृष्टि में ही नहीं उसके अपने तत्त्व में भी, और इससे इतिहास दिव्य कर्म के एक महानतम उदाहरण से वंचित रह जाता। प्लेटो के अपोलोजी, क्रीटो और फीडो संवादों को पढ़कर कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि सुकरात के लिए सर्वोपरि आत्मा नहीं थी। ("मित्र के प्रति वफादारी" को यदि कोई अन्य–केन्द्रकता के रूप में देखता है तो

वह मैत्री के तत्त्व को समझने की असमर्थता ही प्रकट करता है।) यहाँ गांधीजी व उदाहरण उपयोगी होगा–गाँधीजी भारत के लिए विदेशी सरकार द्वारा बनाए गए कानू के प्रति कोई प्रतिबद्धता अनुभव नहीं करते थे। इसी प्रकार जयप्रकाश नारायण औ सुभाषचन्द्र बोस भी नहीं करते थे। इसी से तीनों इन कानूनों के कानूनों को तोड़ते थे। अ जयप्रकाश नारायण और सुभाष बोस जेल तोड़कर भाग गये जो इस कानून के प्र अप्रतिबद्धता से संगत बात थी,किन्तु गाँधीजी नहीं भागे, क्योंकि गाँधीजी जेल से भागक नहीं, जेल में रहकर उस कानून की अनुचितता अधिक गहराई से प्रकट कर रहे थे औ दूसरी ओर सुकरात की इस दुष्टि के अनुसार देख रहे थे कि "अनुचित का प्रतिपाद अनुचित से नहीं करना चाहिए।" (क्रीटो) स्पष्टतः यह सब समाज–केन्द्रकता नहीं है।

अब ईसाइयों की आद्य पाप की अवधारणा के सम्बन्ध में : इस अवधारणा का कोइ भी सम्बन्ध समाज से नहीं है, यह मनुष्य होने मात्र से है। और यह अवधारणा इससे कहीं अधिक गहरी बौद्धों के द्वादश निदान चक्र और अनादि वासना के सिद्धान्तों में और वेदान्त की अनादि अविद्या की अवधारणा में मिलती है। जहाँ तक प्रयत्न और भगवत्कृपा की अवधारणाओं में अन्तर्विरोध का सम्बन्ध है, यह अन्तर्विरोध किस प्रकार उन अन्तर्विरोधों में से एक है जो मानव–परिस्थिति में ही अन्तर्निहित हैं। इस पर यहाँ हम विचार नहीं कर केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि यह अवधारणा उतनी ही वैष्णव धर्म में भी मिलती है

इस प्रकार समाज–केन्द्रकता और व्यक्ति की निर्धारितता एवं उत्तरदायित्व मे अन्तर्विरोध के उदाहरणों में केवल मार्क्सवाद ही शेष बचता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि न तो समाज–केन्द्रकता और उपर्युक्त अन्तर्विरोध में कोई अनिवार्य संबंध है और न यह अन्तर्विरोध ही उतना वास्तविक है जितना प्रकट है। उदाहरण के लिए प्लेटो का रिपब्लिक अत्यधिक समाज केन्द्रक है किन्तु उसमें व्यक्ति को समाज–निर्धारित नहीं माना गया है। इसी प्रकार 'लोकसंग्रह', 'महाजनो येन गतः सः पंथाः' और 'ऋण–त्रय' आदि की भारतीय अवधारणाएँ मूल्य व्यवस्था में समाज के महत्त्वपूर्ण स्थान की द्योतक हैं। यद्यपि यह सही है कि ये अवधारणाएँ समाज–निर्धारितता–परक नहीं हैं किन्तु उसी प्रकार सुकरात और प्लेटो की भी नहीं हैं। जहाँ तक निर्धारितता और उत्तरदायित्व में अन्तर्विरोध का प्रश्न है यह अंतर्विरोध मानवीय परिस्थिति का आकलन करने के बहुत से और प्रयत्नों में भी देखा जा सकता है जैसाकि हमने ऊपर भी कहा। ऊपर मानव–प्रयत्न और भगवत्कृपा का उदाहरण हम देख ही चुके हैं, इसी प्रकार अनादि अविद्या और मुक्ति की अन्वेष्यता में, कर्मफल के अटूट चक्र और कर्म के प्रति उत्तरदायित्व में भी यह विरोध देखा जा सकता है। किन्तु ये सब अन्तर्विरोध वास्तविक नहीं हैं। उदाहरण के लिए समाज–निर्धारितता और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को ही लें। सर्वप्रथम, समाज के प्रति उत्तरदायित्व का सम्बन्ध समाज के प्रति ऋण से है, समाज से निर्धारितता से नहीं। प्रतिपत्ति यह है कि 'व्यक्ति जो कुछ है वह समाज की बदौलत है' तब उसका भी कर्तव्य है कि वह उसे कुछ दे'। ठीक यही बोध यज्ञ की अवधारणा में भी है। प्रतिपत्ति यह नहीं है कि 'क्योंकि समाज व्यक्ति का कारण और व्यक्ति समाज का कार्य है इसलिए व्यक्ति समाज के प्रति

उत्तरदायी है।' अब जहाँ तक इस तथ्य का संबंध है कि यदि व्यक्ति समाज से निर्धारित है तो वह स्वतंत्र कर्ता कैसे हो सकता है, अथवा मार्क्सवाद की पदावली में कहें तो, यदि मेरे विचार वर्ग–निर्धारित हैं तो वे सही और गलत कैसे हो सकते हैं? और यदि वे स्वयं में सही और गलत नहीं हैं तो फिर मेरे लिए कुछ कर्तव्य कैसे रह जाता है ? तो इसका उत्तर होगा कि समाज से निर्धारण में युक्त चिन्तन और उचित–अनुचित के विवेक की सामर्थ्य भी सम्मिलित है, यह निर्धारण न भौतिक प्रकार का है और न पाशव प्रकार का, यह मानवीय प्रकार का है। उदाहरणतः हम भाषा समाज से सीखते हैं, उसके बिना कोई व्यक्ति भाषा–ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, भाषा के बिना वह विचार में समर्थ नहीं हो सकता। किन्तु न तो भाषा की समाजात्मकता व्यक्ति द्वारा उसके प्रयोग की स्वतन्त्रता की निषेधक होती है, न विचार की भाषा–मूलकता (और समाजमूलकता भी) व्यक्ति के स्वतंत्र चिन्तन में बाधक होती है, इससे वह उचित–अनुचित के विवेक में भी समर्थ होता है। इस प्रकार वास्तव में सामाजिक निर्धारण व्यक्ति–स्वातंत्र्य की तर्कतः चाहे न भी सही किन्तु तथ्यतः अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। वास्तव में निर्धारण और स्वातंत्र्य में अन्तर्विरोध देखने में भ्रांति का आधार 'मानव' और 'समाज' पदों का परस्पर विरोधी पदों के रूप में प्रयोग है, जो कि दयाजी ने किया है और प्रायः सभी करते हैं। किन्तु यह सही नहीं है। 'मानव' पद 'व्यक्ति' और 'समाज' दोनों पदों का समावेश करता हैं और इससे दोनों का समान रूप से विशेषण भी हो सकता है, और दूसरे, 'व्यक्ति' और 'समाज' पद भी सब प्रसंगों में परस्पर विरूद्ध नहीं हैं, कुछ प्रसंगों में ये सहयोगी हैं, कुछ में पूरक, और कुछ में विरूद्ध भी हैं। किन्तु इनको अधिकांशतः विरूद्धों के रूप में ही देखा गया है, क्योंकि तार्किक विचार का स्वभाव है कि वह परस्पर व्यावर्त्तक युगलों के द्वारा ही उपचारित होता है। किन्तु ऊपर हमने भाषा का ही उदाहरण दिया, यह व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति का भी माध्यम होती है और व्यक्तियों में परस्पर संप्रेषण की भी, किन्तु अपने सत्व में यह निर्वैयक्तिकतया सामाजिक होती है। भाषा का केवल एक ही पद व्यक्तिवाचक है और वह है 'मैं'। किन्तु यह सर्वनाम भी है और केवल तभी निजवाचक होता है जब वक्ता स्वयं उद्‌देश्य होता है। किन्तु इस प्रयोग में यह निजता भी नितान्त निजी नहीं होती, यह 'अन्य के प्रति' निजता होती है, दूसरी ओर स्वयं भाषा में यह 'सर्वनाम' मात्र है जिसके लिए सब निजताएँ समान हैं।

किन्तु 'व्यक्ति' और 'समाज' पद कुछ स्थितियों में विरूद्ध भी होते हैं। उदाहरणतः 'प्रजातंत्रवाद मुख्यतः व्यक्ति–केन्द्रक व्यवस्था है और समाजवाद समाजकेन्द्रक। रूसो और जोह्न रॉल्स' की समाज की अवधारणाएँ, जो प्रजातंत्रवादी अवधारणाएँ हैं, समाज को व्यक्ति निर्णयमूलक के रूप में कल्पित करती हैं। प्रजातंत्रवाद और समाजवाद के विपरीत सामन्तवाद व्यक्ति –निरपेक्ष सामाजिकता है और इसलिए वह समाज–केन्द्रक व्यवस्था नहीं है। समाज–केन्द्रक व्यवस्था या तो प्लेटो के रिपब्लिक में है अथवा मार्क्स–एंजल्स के ग्रन्थों में, किन्तु ये दोनों आदर्श कल्पनाएँ हैं, पाश्चात्य सभ्यता की वास्तविक स्थिति नहीं।

किन्तु दयाजी कह सकते हैं कि उन्होंने 'समाज–केन्द्रक' पद का प्रयोग केवल उस अवधारणा के लिए किया है जिसमें अर्थ का केन्द्र 'अन्य' या 'हम' होते हैं, 'मैं' नहीं।

उदाहरण के लिए ईसा ने अन्यों को पाप के फल से मुक्त करने के लिए आत्मबलिदान किया, दूसरी ओर बुद्ध ने आत्मज्ञान के लिए अन्यों के दुःख की उपेक्षा की। दूसरे, अन्यों के पाप की अपने बलिदान द्वारा शांति की भारत में अवधारणा ही नहीं है। यह सही है, किन्तु क्या यह ईसाई अवधारणा वास्तव में पाश्चात्य सभ्यता के व्यवहार, अथवा उसके विचार को भी, विशेषित करती है, उदाहरण के लिए, किसी पाश्चात्य दार्शनिक ने अपनी नीति मीमांसा में इस अवधारणा को आधार नहीं बनाया, दूसरी ओर, यह अवधारणा भारत में कहीं भी नहीं मिलती है, यह बात भी नहीं है। उदाहरण के लिए शिव के गरल–पान में इस अवधारणा का संकेत है, इसी प्रकार, अपने ऊपर आपत्ति लेकर पुत्र, पत्नी आदि पर आने वाले दैव कष्टों का निवारण करना, परिवार के किसी व्यक्ति के कर्म–जन्य कष्टों के निवारण के लिए किसी अन्य का तपस्या करना या जप करना, ये विधान यहाँ प्रायः सर्वत्र मिलते हैं। किन्तु ये हमारे समाज या दर्शन में प्रतिबिम्बित नहीं मिलते। जहाँ तक मार्क्सवाद या अन्य समाज–चिन्तनों में व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तदायी मानने का प्रश्न है, वह सर्वथा दूसरी बात है और यह विचार हमारे यहाँ तीन ऋणों के रूप में प्रतिष्ठित मिलता है।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति को दयाजी ने समाज–केन्द्रक के विपरीत आत्म–केन्द्रक कहा है। इस केन्द्रकता का एक मुख्य लक्षण उनके अनुसार 'अन्य के प्रति चिन्ता' का अधिकतम अवमूल्यन है। यदि पाश्चात्य सभ्यता को ''अन्य की उपस्थिति के प्रति चिन्ता'' से लक्षित करें और ''चिन्ता'' का अर्थ ''महत्त्व की चेतना'' करें तो सम्भवतः यह पाश्चात्य संस्कृति का अधिक सही निरूपण होगा और यह भारतीय संस्कृति से उसकी भिन्नता को भी अधिक सार्थक रूप से व्यक्त करेगा। किन्तु यहाँ हम पाद–टिप्पणी के रूप में यह और जोड़ना चाहेंगे कि यह लक्षण या वैशिष्ट्य ऐसा ही है जैसा मनुष्य की शरीर–व्यवस्था में अन्य सब प्राणियों से भिन्न हँसने की योग्यता का प्रावधान होने से मनुष्य को उससे परिभाषित करना।

भारतीय संस्कृति का 'आत्मकेन्द्रक' संस्कृति के रूप में चित्रण अंशतः उपयुक्त है, किन्तु केवल अंशतः ही, क्योंकि यज्ञ की अवधारणा को भी इसी संस्कृति ने जन्म दिया था जिसमें 'अन्य की चिन्ता' आधारभूत है और 'अन्य' केवल मानवीय ही नहीं बल्कि सार्वभौम है। उत्तरवैदिक काल में 'अहं' और 'त्वं' के तात्त्विक अभेद की दृष्टि का आविर्भाव हुआ, किन्तु यह दृष्टि आरंभ में मुख्यतः बौद्धों में प्रतिष्ठित हुई, ब्राह्मणों में नहीं। उदाहरणतः संस्कृत काव्यों, पुराणों और स्मृतियों में यह दृष्टि प्रायः अनुपस्थित मिलती है। दयाजी अवतार और बोधिसत्व की अवधारणाओं को अपवाद कहते हैं जबकि वास्तव में ये अवधारणाएँ काव्य, पुराण और सामान्य जन जीवन की प्राण थीं। यहाँ आवन्तरतः यह भी द्रष्टव्य है कि अर्थशास्त्र और कामसूत्र इसी काल के जीवन्त ब्राह्मण–मानस की उपज थे 'अतिक्रामी आत्मा की अवधारणा के फलस्वरूप क्षय–ग्रस्त' मानस की नहीं, जैसा कि दयाजी कहते हैं।

इसके बावजूद भी आत्मकेन्द्रकता भारतीय संस्कृति को महत्त्वपूर्ण रूप से विशेषित करती है, इसमें संदेह नहीं। केवल इसी ने बौद्ध और वेदांतिक अद्वैत–दृष्टि और सांख्यीय

अतिक्रामी प्रेक्षकत्व और विवेक–दृष्टि पायी और शंकर के बाद यह दृष्टि भारतीय समाज की प्रमुखतम दृष्टि बन गई। दयाजी द्वारा इस दृष्टि का निरूपण प्रायः प्रायः सही है, किन्तु इससे सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष से हम सहमत नहीं हैं। वह यह कि "अन्य के प्रति चिन्ता (अन्य–परकता) नीति का मूल है और परिणामतः भारतीय संस्कृति नैतिक नहीं होकर अतिनैतिक है।" यदि ऐसा है तब "आत्मार्थे सर्वत्यजेत्" में कैसा आदेश है? दयाजी का उत्तर है कि यह नीति के अतिक्रमण का आदेश है। मान लें, किन्तु तब 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' में कैसा आदेश है ? दयाजी कम से कम इसे नैतिक आदेश ही मानेंगे। तब यह आदेश अन्तिम आदेश के लिए आवश्यक है या नहीं ? वास्तव में वेदांत–ग्रन्थों में अधिकारी की चर्चा में नीति के अतिक्रमण में नीति की अनिवार्य पूर्वापेक्षा सर्वत्र स्वीकृत है। यदि ऐसा है तब भारतीय संस्कृति में नीति की अवहेलना नहीं होकर उससे उच्चतर भूमि पर आरोहण की दृष्टि है।

किन्तु वास्तव में नीति की परिभाषा 'पर हित चिन्ता' नहीं की जा सकती, यह परिभाषा 'आत्म–सिद्धि' करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यहाँ प्लेटो के क्रीटो संवाद का स्मरण स्थाने होगा जिसमें सुकरात जेल से भागने के परामर्श को अस्वीकार करते हुए कानून तोड़ने से जिनको हानि होगी उनमें आत्मा की गणना सबसे पहले करता है, उसके बाद मित्र और देश का उल्लेख करता है। इसके अतिरिक्त, सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत नैतिक आदर्श ब्रह्मचर्य, सत्य और निष्कामता को लिया जा सकता है। इनमें पहले और तीसरे में स्पष्टतः अन्य की अपेक्षा नहीं है और दूसरे में केवल प्रकटतः ही अपेक्षा है, वस्तुतः नहीं, क्योंकि सत्य का तत्त्व सही कहने में नहीं है बल्कि स्वयं में सत्यपरायण होने में है। दयाजी के नीति–विषयक मत के पक्ष में अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है यह लौकिक जीवन की साधना है अति–लौकिक जीवन की नहीं, और इसमें पर–हित भी सम्मिलित होता है, जबकि अतिलौकिक की भारतीय अवधारणा में इतर केवल अनात्म है। किन्तु नीति की लौकिकता विषयक अवधारणा में भी पर–चिन्ता स्वयं में नहीं बल्कि श्रेयस् की सिद्धि के रूप में ही गृहीत होती है।

इस प्रसंग में एक और उदाहरण उन अस्तित्ववादियों का लेना स्थाने होगा जिनके अनुसार अन्य की विद्यमानता उद्विग्नताजनक और भयावह होती है। नैतिकता का आधार परनिष्ठा होने पर अस्तित्ववाद का यह सिद्धान्त अनैतिक हो जाएगा। किन्तु यह संप्रदाय नीति का तत्त्व पर–निष्ठा में नहीं देखकर आत्मप्रतिबद्धता और आत्मप्रामाणिकता में देखता है। इसी प्रकार कांट नीति का तत्त्व संकल्प की शिवता या श्रेयस्ता में देखता है जो आत्मा की अपने अत्यन्तातिक्रामी स्वरूप (ट्रांसेडेंटनेस) में प्रतिष्ठा और इस प्रकार व्यवहार (फिनॉमिनेलिटी) से मुक्ति है। यद्यपि अस्तित्ववादी सार्त्र की बैड–फेथ की अवधारणा कांट की अवधारणा के ठीक विपरीत जैसी है किन्तु पर–निष्ठता की दृष्टि से ये दोनों समान हैं : इनमें नीति का मूल पर की विद्यमानता नहीं है, वे सूत्र वास्तव में नैतिक बोध की निरहंकारता और अतिक्रामी आत्मतत्त्व में आत्म–पर के अभेद के प्रतिपादक कहे जा सकते हैं, इतर के इतरत्व की अनिवार्यता के नहीं। कांट के नीति–विषयक सभी सूत्र संस्कृत के नीति–विषयक सुभाषित–संग्रहों में कहीं भी देखे जा सकते हैं।

यह सही है कि भारत के दार्शनिकों ने नीति पर विचार नहीं किया, इसे वे केवल स्मृतिकारों का विषय ही मानते थे। किन्तु इसका अर्थ यह है कि 'नैतिक आचरण क्य है–क्या नहीं' इसे वे सामाजिक परम्परा द्वारा निर्धार्य मानते थे और नीति का तत्त्व आत्म–साधना में मानते थे। निश्चय ही इस दृष्टि से बहुत अहित भी हुआ, यहाँ नैतिव आचरण सृजनात्मकता से रहित, जड़ और परमार्थ से विच्छिन्न व्यवहार का विषय हो गय जिससे परमार्थ और व्यवहार में ऐसे अन्तर्विरोध का निर्वाह भी सम्भव हो सका वि आत्म–पर–भेद को अविद्यामूलक उपाधि मानने वाले वेदांती भी व्यवहार में वर्ण–जाति–भेद को अलंध्य मानकर चल सके। किन्तु इसका वास्तविक कारण आत्मकेन्द्रकता नहीं थ बल्कि सांस्कृतिक वार्धक्य था। अन्यथा व्यवहार और परमार्थ का और इस प्रकार नैतिव बोध और नैतिक आचरण के तत्त्वों के आधारभूत विच्छेद कांट में भी मिलता है, और वह नीतिमीमांसा के सन्दर्भ में ही। वह भेद किसी भी अर्थ में वेदांत से कम और सांख्य से भिन्न नहीं है। किन्तु यह भेद–बोध कभी अनीति के लिए छूट के रूप में नहीं देखा गया। दूसरी ओर कांट के समान ही भारत में भी नैतिक आचरण के मानदंड के रूप में 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' को स्वीकार किया गया और भारत के समान ही पश्चिम में मध्ययुगों में नैतिक जड़ता और वर्तमान काल में अनैतिकता की कोई कमी नहीं मिलती एक गाल पर तमाचा मारने वाले को दूसरा गाल दिखाने का आदेश देने वाले ईसा के अनुयायियों ने जिस प्रकार ईसाइयत का प्रसार किया और जिस प्रकार वे "शांति के लिए शस्त्र–संग्रह" के सिद्धान्त और व्यवहार का प्रतिपादन और आचरण कर रहे हैं वह सब हम देख ही रहे हैं। जहाँ तक दार्शनिकों द्वारा नैतिक चिन्तन का प्रश्न है, पश्चिमी दर्शन के एक प्रमुख सम्प्रदाय अनुभववाद ने नैतिक बोध को निराधार, अथवा रियायत करते हुए 'अविचार्य' माना है और मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद और फिनॉमिनालोजी आदि में इसके प्रति असहानुभूति की कोई कमी नहीं है।

तीसरा व्याख्यान कर्म पर है। इस व्याख्यान में कर्मविषयक केवल हिन्दू–दृष्टि पर ही विचार किया गया है। किन्तु उस दृष्टि का भी यह नितान्त अपर्याप्त, और कुछ स्थलों पर अयुक्त भी, निरूपण है। इसकी अपर्याप्तता विशेषतः यज्ञीय कर्म को लेकर है, उसके स्वरूप पर दयाजी ने तनिक भी विचार नहीं किया है। उन्होंने मुख्यतः गीता पर ही विचार किया है जो हमें नितान्त अयुक्त प्रतीत होती है। किन्तु व्याख्यान के आरंभ में उन्होंने कर्म में इतर व्यक्ति के स्थान और परिणामों पर थोड़ा विचार किया है। दो शब्द उसके सम्बन्ध में यहाँ कहना भी आवश्यक प्रतीत होता है। कर्म में अन्य व्यक्ति साधक या बाधक के रूप में प्रस्तुत होते हैं। अब, दयाजी के अनुसार कर्म–सिद्धि के लिए बाधक व्यक्तियों को या तो हमें अनुनय से मनाना होता है अथवा बलात् हटाना होता है। उनके अनुसार, दोनों ही रूपों में यह अन्य की (व्यक्ति के रूप में) अन्यता का हनन है और उसका अपने उद्देश्य की पूर्ति में साधन के रूप में प्रयोग है। अन्य का साधन के रूप में यह प्रयोग उस कर्म को, जो कर्म के नैतिक उद्देश्य से आरंभ किया गया था, अनैतिक बना देता है।"[27] अब, हमें यहाँ जो बात समझ में नहीं आयी वह यह कि विरोधी अन्य का

विरोध अनुनय अथवा बल–प्रयोग से ही क्यों हटाया जा सकता है, समझा कर क्यों नहीं हटाया जा सकता! और दूसरे, अनुनय या बल–प्रयोग उसे अन्य व्यक्ति के साधन या उपकरण में कैसे बदल देते हैं! अनुनय न तो हम पशु से करते हैं और न पत्थर से, केवल व्यक्ति से ही करते हैं, और उसमें युक्ति यही होती है 'कि यदि आप मेरी बात से सहमत नहीं हैं तो न सही, किन्तु मुझे अपने विचार के अनुसार कार्य करने दें, क्योंकि व्यक्ति के रूप में मुझे अपने विचार के अनुसरण का वैसा ही अधिकार है जैसा आपको!'' बलात् हटाने में अन्य की अन्यता का निषेध अवश्य दीखता है किन्तु वास्तव में यह वहाँ भी नहीं है। इसमें यदि यह ध्यान रखा जाता है कि मेरे कर्म से विरोध करने वाले के उचित स्वार्थ का हनन नहीं हो रहा है और वह व्यर्थ मेरी स्वतंत्रता में बाधा डाल रहा है तब यह 'अनैतिक व्यक्ति' है और इस कारण वह 'अन्य व्यक्ति' ही है, क्योंकि हम यह समझ सकने की सामर्थ्य स्वीकार कर रहे हैं कि वह अनैतिक है और वह अपनी इस सामर्थ्य का उपयोग नहीं कर रहा है।

आगे दयाजी कहते हैं कि ''व्यक्ति जब परिवार, समाज या देश के सदस्य के रूप में कार्य करता है तब उसके लिए एक सीमा तक मिथ्याचार (हिपोक्रेसी) अनिवार्य हो जाती है जोकि अनैतिक है।''[28] दूसरे शब्दों में, किसी समूह के सदस्य के रूप में हमारे लिए अनैतिक आचरण अनिवार्य हो जाता है। यहाँ भी सम्भवतः दयाजी नैतिक स्थिति में एक अपरिहार्य अन्तर्विरोध की ओर ही ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि एक ओर नैतिक आचरण के लिए समुदाय–समाज अनिवार्यतः पूर्वापेक्षित है और दूसरी ओर समुदाय का होना अनैतिकता को अनिवार्य बना देता है। किन्तु यदि दयाजी थोड़ा गहराई से देखें तो यह समझने में देर नहीं लगेगी कि साधारणतः समुदाय और उसके सदस्य नैतिकता को शिथिल रूप से ही अपनाते हैं और उसका सुविधा से संतुलन बनाये रखते हैं। दूसरे शब्दों में, साधारणतः समाज में, और साधारण वैयक्तिक जीवन में भी, व्यवहार–नीति का आचरण होता है प्राज्ञनीति का नहीं जो वास्तविक नैतिकता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति नैतिकता के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध है–आठों पहर जागता रहता है तो उसे मिथ्याचार, अथवा कहें दिखावे, की आवश्यकता नहीं रहती, रहती भी हो तो वह उसे बरतता नहीं। 'उसे आवश्यक नहीं रहती' का अर्थ है कि समाज भी उससे इसकी अपेक्षा नहीं करता।

अब हम उनकी गीता की आलोचना पर संक्षेप में विचार करेंगे : दयाजी के अनुसार गीता में कर्म के विषय में दो विरोधी निर्देश हैं, एक कर्म–फल के प्रति ताटस्थ्य का और दूसरा ईश्वरार्थता अथवा धर्मसंस्थापनार्थता का। उनके अनुसार दूसरा आदेश प्रथम के विपरीत है क्योंकि दूसरे में सोद्देश्यता है।[31–33] इस आलोचना में 'निष्कामता' और 'ईश्वरार्थ' दोनों को समझने में कमाल की असमर्थता प्रकट होती है। 'निष्कामता' का अर्थ 'निष्प्रयोजन' है ऐसा दयाजी ने पता नहीं किस आधार पर समझा है, इसका अर्थ केवल प्रयोजन–सिद्धि के प्रति निरुद्विग्नता है। एक साधारण स्तर पर 'स्पोर्ट्समैन्स् स्पिरिट' में भी यह स्पष्ट है। अन्यथा, कोई कर्म निरुद्देश्य किया ही कैसे जा सकता है? हम उठकर चलेंगे भी तो या तो कहीं पहुँचने के लिए चलेंगे या फिर भ्रमण के लिए चलेंगे, जब तक इतने

विक्षिप्त नहीं हों कि बस यों ही उठकर चल दें। इस 'यों ही चलने' को तब 'कर्म' नहीं कह जाएगा। अब इस निष्कामता या 'फलानासक्ति' का ही दूसरा नाम 'ईश्वरार्थता'–'भगवत्समर्पण–भाव' है। 'ईश्वरार्थ' का अर्थ है 'कर्म को ईश्वर का आदेश मानकर करना और उसके परिणाम–निर्धारण को अपनी सामर्थ्य से बाहर जानते हुए उसके प्रयत्न के विरूद्ध होने पर उद्विग्न नहीं होना।' इस प्रकार यह वास्तव में 'ईश्वरार्थता' निष्कामता' की व्याख्या मात्र है। कर्म के प्रति निष्कामता सार्थक तभी हो सकती है यदि कामना को य तो 'अनात्म' माना जाय अथवा भगवत्समर्पित भाव से किया जाय। इनमें पहली दृष्टि 'सांख्य योग' है और दूसरी 'भक्ति योग'। आगे दयाजी कर्म की 'दुःखजनकता' के सिद्धान्त की बात करते हैं, जो वे ही कर सकते हैं, क्योंकि उनकी बात का भारतीय मानस से कोइ सम्बन्ध नहीं है। 'कर्म मनुष्य को आत्म–बाह्य रखता है' इस विचार को प्रस्तुत करने के बाद वे कहते हैं–''कर्म का यह पक्ष इसे और गहरा मोड़ देता है–यदि कर्म नैतिक हो; क्योंकि तब दूसरों के दावे चेतना को निरन्तर व्याकुल रखेंगे और हम उस थोड़े से सुख से भी वंचित हो जाएंगे जो जीवन में हमें मिलता है। मानवता विशाल है और इसके कष्ट अपार हैं। इनसे बचने के लिए व्यक्ति को अपने में एक मानसिक अंधापन और बहरापन लाने का अभ्यास करना चाहिए जिससे वह अन्यों के दुःख–दर्द को देख–सुन नहीं सके।

''इसके अतिरिक्त, यदि कर्म नैतिक है तो व्यक्ति के लिए अपने कर्मों के फल की चिन्ता करना अनिवार्य है। ऐसे सन्दर्भ में निस्पृहा अनैतिकता का लक्षण है और इससे कोइ अन्तर नहीं पड़ता कि यह चिन्ता कर्म करने वाले के मन की शांति को भंग करती है य नहीं। बल्कि, मनुष्य को ऐसी परिस्थिति में उद्विग्न होना ही चाहिए, और यदि कोई दूसरे के दुःख से उद्विग्न नहीं होता तो वह मनुष्य नहीं है। गीता इस मौलिक अन्तर्द्वन्द को एव ओर छोड़ देती है और भगवदर्थ तथा निष्काम दो प्रकार के कर्म करने का उपदेश करती है।''[32] यहाँ हम सर्वप्रथम इससे आरंभ करेंगे कि गीता इस प्रश्न से बचकर नहीं निकलती बल्कि निरुद्विग्न रहने के लिए स्पष्टतः कहती है। अर्जुन का विषाद बन्धु–बान्धवों की मृत्यु और समाज में अव्यवस्था फैलने की सम्भावनाओं को लेकर ही था। इस विषाद के परिणामस्वरूप उसमें त्याग और करुणा की उदात्त भावनाओं का ही उदय हुआ था कायरता और तामसिकता का नहीं और कृष्ण ने इसी मनोभाव पर कहा था कि ''त अशोचनीय पर शोक कर रहा है।'' यदि थोड़ा ध्यान से देखा जाए तो कांट भी यही कहत है– उसके अनुसार, 'यदि आप पर–दुःख–कातर होकर दूसरे की सहायता करते हैं त आपका वह कर्म ''नैतिक'' नहीं होगा क्योंकि तब आप अपनी भावुकता की प्रेरणा से वः कार्य कर रहे होंगे, प्राकृतिक मानसिकता (सेंसीबिलिटी) से ऊपर उठकर कर्तव्य–बोध र नहीं।'' इस तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त से पृथक् भी, पर–दुख–कातर होने में नैतिक गौरव कैस है ? यह क्या अधिक गौरव की बात नहीं है कि कोई दुखद परिस्थिति को विधि क विधान माने और दुःख निवारण को अपना कर्तव्य या विधाता का आदेश मानकर करे पर–दुःख–कातर होना और उससे प्रेरित होकर कुछ करना मानवीय है, अकातर भाव र अपने को निमित्त मानकर करना अतिमानवीय। यहाँ सहसा गाँधीजी के एक आचरण क

ध्यान आता है : क्वेटा में भयानक भूचाल आया था और उसमें बहुत लोग मरे और घायल हुए थे। गांधीजी ने इसे 'हमारे कर्मो का फल' ही कहा। इस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर बहुत खफा हुए और उन्होंने इसे गांधी जी की भावना–शून्यता कहा। किन्तु भूचाल से आहत लोगों की सहायता गांधीजी ने सबसे अधिक की। अब इसे कर्म–फल की वैश्व व्यवस्था मानकर, या प्रभु की लीला मानकर यदि कोई निरुद्विग्न भाव से दुःखी लोगों के दुःख–निवारण के लिए अग्रसर होता है तो यह उच्चतर नैतिकता होगी या कि दुःख–कातर–भाव से कर्म–प्रवृत्ति उच्चतर नैतिकता होगी?

किन्तु इसका अर्थ यह कभी भी नहीं है कि दूसरों के दुःख–निवारण में प्रयत्नशील नहीं हुआ जाय, यद्यपि यह भी आवश्यक नहीं है कि हुआ ही जाय। यह उस सन्दर्भ या भूमिका पर निर्भर करता है जिसमें आप हैं। उदाहरण के लिए क्वेटा के भूचाल–पीड़ितों के सहायता के लिए गांधीजी गए, श्री अरविन्द नहीं गए, शायद उन्होंने कोई सहानुभूति भी प्रकट नहीं की। इससे श्री अरविन्द अनैतिक या नैतिकता के प्रति उदासीन नहीं हो गए, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई चित्रकार, दार्शनिक या कवि अपने देश पर आक्रमण होने पर यदि सेना में भर्ती नहीं होता तो वह राष्ट्र–विरोधी नहीं हो जाता।

चौथे व्याख्यान का शीर्षक है– ''स्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य।'' इसमें स्वातंत्र्य–विषयक भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों का निरूपण है। पाश्चात्य दृष्टि को दयाजी ने स्पैंग्लर के अनुरूप 'फाउस्टीय' विशेषण दिया है और भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधि वेदांत और सांख्य को माना है। स्वातंत्र्य का स्वरूप वे 'अन्य के पराभव' में देखते हैं। सो, वेदांतीय स्वातंत्र्य अन्य की सत्ता के निषेध में है और फाउस्टीय अन्य के नाशन में। दयाजी इन दो में मौलिक अन्तर नहीं देखते किन्तु तब भी, उनके अनुसार, इनमें यह भेद है कि फाउस्टीय में इतर की सत्ता अस्वीकृत नहीं है, क्योंकि वह होने पर ही उसके प्रति उद्विग्नता और उसके नाश की प्ररेणा हो सकती है।

अब, स्वातंत्र्य को अन्य के अभाव या पराभव के रूप में देखने का क्या औचित्य हैं, यह दयाजी ने नहीं बताया। यदि स्वतंत्रता का अर्थ या उसकी अनिवार्य पूर्वापेक्षा अनन्यता हो तो समाज का अस्तित्व ही नहीं हो। स्वातंत्र्य की इस अवधारणा के अनुसार समाज की विद्यमानता स्वातंत्र्य में बाधा की विद्यमानता होगी। ठीक बात यह है कि दयाजी ऐसा ही मानते हैं यद्यपि ऐसा वे स्पष्टतः कहते नहीं हैं। स्वातंत्र्य को अनन्यता या अन्याभाव से परिभाषित करने के मूल में तत्त्वमीमांसा के इस सिद्धान्त से व्यामिश्र होना है कि एक से अधिक द्रव्यों की विद्यमानता का अर्थ है उनका परस्पर सीमित होना। किन्तु यह परिसीमितता सदैव स्वातंत्र्य–बाधक नहीं होती, यह कांट और डेकार्ट के दर्शनों से और वेदान्त और सांख्य से भिन्न भारतीय दर्शनों से स्पष्ट है। व्यावहारिक स्तर पर अवश्य इतरत्व स्वातंत्र्य में बाधक हो सकता है किन्तु वह उसमें साधक भी हो सकता है, जैसे सुकरात के संवादों में और सत्संग की अवधारणा में उसे देखा जा सकता है। भक्ति–संम्प्रदाय में ईश्वर की अन्यता भी स्वातंत्र्य–बाधक रूप में नहीं देखी गई है। और फिर, यदि नैतिकता के लिए इतर की विद्यमानता को आवश्यक मानें, जैसाकि दयाजी मानते हैं, तब नैतिकता

भी स्वतंत्रता की बाधक होगी, इसी प्रकार स्वतंत्रता में चुनाव के लिए भी स्थान नहीं होगा क्योंकि चुनाव भी चुनी जाने वाली वस्तुओं या वस्तुस्थितियों की अन्यता को पूर्वापेक्षित करता है।

जहाँ तक पाश्चात्य सभ्यता को 'फाउस्टीय' और 'फाउस्टीय' को ''अन्य के नाश में आत्मलाभ देखने वाली'', के रूप में परिभाषित करने का प्रश्न है, यह भी युक्त प्रतीत नहीं होता। इसे पाश्चात्य सभ्यता के मानस की एक वृत्ति तो कहा जा सकता है किन्तु उसका सामान्य स्वभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि न तो सुकरात, प्लेटो या अरस्तू में इसकी कोई ध्वनि मिलती है और न ईसाई धर्म में, जिसमें मानव–भ्रातृत्व का सर्वोच्च स्थान है हेगल और मार्क्स का द्वन्द्वन्याय भी एक पक्ष द्वारा दूसरे के ध्वंस में आत्मलाभ का न्याय नहीं है बल्कि दोनों पक्षों के उच्चतर स्तर पर संश्लेषण में आत्मलाभ का न्याय है।

मान लें कि पश्चिम में स्वातंत्र्य का परिप्रेक्ष्य 'अन्य के अस्तित्व के प्रति सशंकत पर प्रतिष्ठित है और इस प्रकार पश्चिम का इतिहास ''एक पक्ष द्वारा दूसरे को पराभूत कर के निरन्तर प्रयत्न का इतिहास है।'' [42] तब इसका अर्थ होता है कि भारत का इतिहास संघर्ष से बचने के प्रयत्न का इतिहास होगा। किन्तु ऐसा है नहीं। तब दयाजी अद्वैतीय औ फाउस्टीय दृष्टि–भेद को एक दूसरी मनःस्थिति में प्रतिफलित पाते हैं। उनके अनुसा भारतीय इतिहास में लड़े गए युद्ध ''चाहे कितने भी उग्र और सुदीर्घ रहे हों, ये क सिद्धान्तों के आधार पर नहीं लड़े गए, जैसे पश्चिम में।'' [43] किन्तु इसके लिए प्रमाण दूसरे, फाउस्टीय में इतर क्या वैचारिक–सैद्धान्तिक है या कि जैविक? दयाजी के अनुस यह वैचारिक–सैद्धान्तिक ही है, विरोधी व्यक्ति और समुदाय मूल्यों के ही वाहक हैं। कि ऐसा आप किस आधार पर कहते हैं? दयाजी के अनुसार 'भारतीय दृष्टि के लि व्यवहार–लोक असत् है और परिणामतः उसके संघर्ष और अन्य चर्याएँ भी निरर्थक जबकि पश्चिम के लिए व्यवहार–लोक वास्तविक है और परिणामतः उसके संघर्ष वास्तविक हैं, उसके लिए ये आदर्शों और मूल्यों के चरितार्थन के संघर्ष हैं। यहूदी, ईसा हेगेलीय और मार्क्सीय दृष्टियाँ सब इतिहास को एक सार्थक और मूल्यात्मक प्रक्रिया रूप में देखती हैं। किन्तु तब भारत में भी रामायण और महाभारत के युद्ध आदर्शो और मूल के लिए लड़े गए थे। इस पर दयाजी का कहना है कि वे ऐहिक युद्ध के रूप में नहीं बल्कि धर्म–युद्धों के रूप में देखे गए हैं जिनमें ईश्वर पापात्माओं को परास्त करता है और मनु केवल मूक दर्शक है। [43–44] अब यह भी दोनों सभ्यताओं का भ्रांत निरूपण है। ईसा हेगेलीय, और मार्क्सीय दृष्टियाँ इतिहास को अवश्य लक्ष्योन्मुख प्रक्रिया के रूप में देख हैं। बल्कि, उनके अनुसार इतिहास–वाहक व्यक्ति और समुदाय स्वार्थों और ईर्ष्या–द्वेष ही लड़ते थे, किन्तु उनसे एक अतिक्रामी ऐतिहासिक प्रयोजन भी सिद्ध होता था- इतिहास के उपकरण बनते थे। जहाँ तक संघर्षों की और इतिहास की धर्म–मूलकता सम्बन्ध है, ईसाई इतिहास–दृष्टि पूर्णतः धर्म–दृष्टि है और हेगेलीय दृष्टि अतिक्रा चित्सत्–मूलक। दूसरी ओर, बाल्मीकीय रामायण और महाभारत के युद्ध देव–दानवों युद्ध नहीं हैं, रामायण का युद्ध सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए उस मर्यादा के ध्वंस

के विरूद्ध लड़ा गया था और महाभारत का युद्ध अपने न्याय–संगत अधिकारों की रक्षा के लिए; और एकमात्र ये ही युद्ध विचारों और आदर्शों के लिए नहीं लड़े गए, इधर निकटवर्ती इतिहास में गुरू गोविन्द सिंह, शिवाजी और महाराणा प्रताप शुद्ध रूप से विचार और आदर्श के युद्ध लड़े। इस प्रकार भारत और पश्चिम में यह भेद नहीं है कि पहले के इतिहास के संघर्ष संघर्षकर्ताओं में मूल्यबोध के अभाव में हुऐ और दूसरे में मूल्य–बोध के आधार पर, बल्कि यह अंतर है कि पहले के लिए इतिहास की कोई अतिक्रामी सत्ता नहीं है और दूसरे के लिए इसकी एक अतिक्रामी सत्ता है।

पाँचवें व्याख्यान का शीर्षक है ''मानदंड की खोज।'' अब, मानदंड गुणात्मक भी हो सकता है और मात्रात्मक भी, और दोनों से भिन्न नैतिक, तार्किक आदि भी। किन्तु मात्रात्मक के अतिरिक्त सब मानदंडों को गुणात्मक में संगृहीत करते हुए कहा जा सकता है कि इस मानदंड को 'उत्कृष्टतर– निकृष्टतर' पदों से अभिहित किया जाता है और मात्रात्मक को 'अधिक और कम पदों से। किन्तु वास्तव में 'अधिक' और 'कम' पद सब प्रयोगों में मात्रात्मक नहीं होते, जैसे 'राम श्याम से अधिक सुन्दर है' में। अब 'स्वातंत्र्य' के साथ मात्रात्मक मानदंड का प्रयोग उचित है या कि गुणात्मक का ? इसका उत्तर हो सकता है कि यदि प्रसंग बाह्य बाधाओं का हो तो मानदंड मात्रात्मक होगा और यदि अनुभूति या संकल्प का हो तो मानदंड गुणात्मक होगा।

किन्तु स्वातंत्र्य की कोई भी अनुभूति या स्थिति उपस्थित, अनुपस्थित या संभाव्य बाधा के बिना हो सकती है? और क्या कोई भी बाधा स्वातंत्र्य की अनुभूति के प्रसंग के बिना हो सकती है ? यदि उत्तर नहीं में हो तो दोनों ही अवस्थाओं में मानदंड मात्रात्मक नहीं हो सकता। यह मात्रात्मक तभी हो सकता है यदि व्यक्तियों से प्रश्न करके उनके उत्तरों की तालिका को स्वातंत्र्य या उसके अभाव का वाचक माना जाय। अब इसे मानदंड मानना, जैसा कि आज माना जा रहा है, बुद्धि–विपर्यास ही माना जा सकता है, और कुछ नहीं। जो भी हो, स्वतंत्रता का मानदंड मात्रात्मक कैसे हो सकता है, इसके लिए दयाजी ने कोई युक्ति नहीं दी, कोई सिद्धान्त देना तो दूर की बात है। किन्तु यह उन्होंने अवश्य बार–बार दुहराया है कि यह दूसरों को खोजना चाहिए और जो उन्होंने नहीं खोजा वह उनके प्रमाद का द्योतक है। इसके लिए यहाँ हम एक उद्धरण देंगे। उनके अनुसार, ''राजनीति विज्ञान में शक्ति के उचित प्रयोग की समस्या सदैव आधारभूत मानी गई है। इसलिए यह आश्चर्य की बात है कि तब भी राजनीतिक स्वतंत्रता (लिबर्टी) के मात्रात्मक मानदंड खोजने की दिशा में कोई कार्य नहीं हुआ है।''[63–64] इसी प्रकार, ''इनमें से प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट स्वतंत्रता है जिसे परिभाषित और स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करना आवश्यक है.... इन क्षेत्रों के बीच और इनमें से प्रत्येक में अन्तर्निहित स्वतंत्रताओं के बीच और इन स्वतंत्रताओं के उद्‌भव की परिस्थितियों के बीच परस्पर सम्बन्धों की जाँच करना तथा इन्हें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के अध्ययनों का विषय बनाना आवश्यक

है।''[53] किन्तु इसे आवश्यक मानने पर भी दयाजी ने न केवल यही नहीं किया बल्कि यह किस प्रकार किया जा सकता है यह भी नहीं बताया।

इस व्याख्यान में दयाजी ने एक बात बहुत आधारभूत कही है, जो यद्यपि स्वतः स्पष्ट और सर्वविदित जैसी है किन्तु जो मात्रात्मक मानदंड की खोज के लिए, जो खोज दयाजी को यहाँ अभीष्ट है, बहुत घातक है। उनके अनुसार, ''विभिन्न देशों और संस्कृतियों में (स्वतंत्रता को) मापने के लिए कोई एक मानदंड खोजना स्पष्टः गलत है।''[59] बिल्कुल ठीक, किन्तु संस्कृतिमूलक इस भेद का आधार क्या है ? यही नहीं कि प्रत्येक संस्कृति की विषयिता अपनी विशिष्ट होती है ? उदाहरणतः एक संस्कृति के व्यक्तियों के लिए पति–पत्नी का दूसरों के द्वारा चयन स्वतंत्रता पर बहुत बड़ा आघात होगा और दूसरी संस्कृति के व्यक्तियों के लिए यह एक स्वाभविक बात हो सकती है? आश्चर्य की बात यह है कि पिछले व्याख्यान में दयाजी स्वातंत्र्य की भारतीय अवधारणा को 'स्वरूप में अवस्थिति' के रूप में देखकर भी उसके लिए मात्रात्मक मानदंड की बात कर रहे हैं। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि वे व्यक्ति और समाज दोनों की सत्ता प्राकृतिक के बजाय मूल्यात्मक मानकर भी स्वातंत्र्य को, जो उन्हीं के अनुसार मनुष्यत्व का और सामाजिकता का सार है, किसी भी प्रकार मापनीय मानते हैं। जहाँ तक पश्चिम का प्रश्न है, उसके आधुनिक युग में ही मात्रात्मक मापनीयता को सत्ता का लक्षण मानने का आग्रह उत्पन्न हुआ है, किन्तु उसमें भी प्रजातंत्रवाद और मार्क्सवाद दोनों का दावा मनुष्य को स्वतंत्रता देने का ही है, और इन दोनों व्यवस्थाओं के पक्षधर इस बात पर एक–दूसरे का गला काटने पर उतारू हैं कि दूसरी मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन करती है। तब ये किसी एक मात्रात्मक मानदंड को कैसे स्वीकार कर सकते हैं, यह बात समझ में नहीं आयी।

प्रकृत प्रसंग में दया जी के छठे और अन्तिम व्याख्यान का शीर्षक है ''समाज : वास्तव या कि आदर्श–कल्पना ?'' (रिआलिटी और उटोपिया!) इस विषय पर दयाजी ने 'सोसल फिलॉसफ़ी : पास्ट एण्ड फ्यूचर' के पहले अध्याय में भी विचार किया है। इसलिए इस व्याख्यान में कोई नया विचार होने की सम्भावना नहीं होनी चाहिए थी, केवल अधिक विस्तार और विवेचन ही हो सकता था। किन्तु ऐसा नहीं है, इसमें दयाजी पूर्व प्रतिपादित विचार से बहुत कुछ विरोधी बात भी कहते हैं। यद्यपि वे इन दो विरूद्ध प्रतिपादनों में संगति बैठाने का प्रयत्न भी करते हैं किन्तु वैसा वे कर नहीं पाते, क्योंकि वैसा किया जा ही नहीं सकता। इस व्याख्यान का आरंभ वे पूर्वप्रतिपादित की पुनरावृत्ति के साथ करते हैं : ''समाज का क्या स्वरूप है! अथवा समाज की सही अवधारणा किस प्रकार की जा सकती है। .... यह प्रश्न ज्ञानात्मक प्रश्न के रूप में नहीं देखा जा सकता, इसे ज्ञानात्मक प्रश्न के छद्‌म–वेश में मूल्यात्मक प्रश्न के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इस प्रश्न को ठीक प्रकार से समझा जाए तो यह मूल्यात्मक निर्णय की मांग है। इसमें परिपृच्छा है कि आप कैसा समाज चाहेंगे, अथवा कैसे समाज को श्रेष्ठतर समाज कहेंगे।''[68] किन्तु

आगे वे प्रश्न उठाते हैं, जोकि वास्तव में बहुतों ने उठाया है, कि तब समाज–विषयक सत्य का, यथार्थ का, कोई प्रश्न नहीं रहता, इसे वांछनीय रूप में गढ़ने का प्रश्न ही रहता है।

किन्तु तब समाचार और विचार पर ऐसा नियंत्रण नितांत उचित हो जाता है जो समाज को 'सही' दिशा में ले जाने के लिए उपयुक्त हो। अधिनायकवादी सरकारें वास्तव में यही करती हैं। ऐसी अवस्था में हिटलर और स्टार्लिन को दोष देना व्यर्थ हैं, क्योंकि ऐसे समाचारों और वक्तृताओं पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जाता है जो समाज को अवांछनीय दिशा में ले जाएँ। दूसरे शब्दों में, समाज की उपर्युक्त अवधारणा के अनुसार 'सत्य वही है जो उसे होना चाहिए।' अपने मत के इस अनभिप्रेत निष्कर्ष का समाधान दयाजी इस प्रकार करते हैं–'स्पष्टतः यह वैज्ञानिक विषयनिष्ठता के उस प्रत्यय को छोड़ना होगा जो आधुनिक ज्ञान के अधिकांश क्षेत्रों में स्वीकृत है। यह हताशा की पराकाष्ठा है, यह विषयनिष्ठता और सत्य की खोज को एकबारगी और पूरी तरह से मृगतृष्णा मान लेना है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है। समाजवैज्ञानिक को समाजवैज्ञानिक के रूप में ऐतिहासिक प्रक्रिया में कोई पक्षपात नहीं करना चाहिए। आत्मचेतन विचार में यह महत् शक्ति है कि यह सब कुछ का विषयकरण कर सकता है, और तब इसका कोई कारण दिखाई नहीं देता कि यह क्यों उस विचित्र परिस्थिति के सामने, जो सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक यथार्थ के रूप में उपलब्ध होती है, अपने को अशक्त पाये।

पुनः दृष्टव्य है कि "यह बोध कि सामाजिक विज्ञानों में सैद्धान्तिक अभ्युपगम अनिवार्यतः एक मूल्यात्मक आयाम से आविष्ट रहते हैं, इसे प्रकाश में लाने की चुनौती प्रस्तुत करता है। किन्तु वैज्ञानिक को इन अभ्युपगमों में निहित मूल्यात्मक परिणामों तथा मूल्य–प्रतिबद्धताओं के साथ अपने को नहीं जोड़ना चाहिए। उसका कार्य विभिन्न वैकल्पिक अभ्युपगमों और उनसे सम्बन्धित विभिन्न मूल्यात्मक परिणामों के तार्किक निगमन प्रकट करना है।"[71] यह स्पष्टतः दयाजी के पूर्व प्रतिपादन के विपरीत है। निश्चय ही आत्मचेतन विचार सब कुछ का विषयकरण करता है किन्तु उसकी विशिष्टता अपना विषयकरण करने की योग्यता है। यह विषयकरण विचार और अध्यवसायात्मक ज्ञान का आधार है। यह ज्ञान तथाकथित वैज्ञानिक और आधुनिक युग के पहले भी लोगों को था और उनमें विषयनिष्ठता की सामर्थ्य भी आधुनिक वैज्ञानिक युग जैसी ही थी। यदि 'विषयनिष्ठता की एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा निराग्रहता को माना जाए तो यह बात विवादास्पद हो सकती है कि आधुनिक युग विज्ञानाग्रह–ग्रस्त नहीं है। किन्तु इस बात को छोड़ते हुए, जो यहाँ अवांतर है, यहाँ प्रश्न है कि यदि समाज वैज्ञानिक समाज, मूल्यान्वेषण आदि को मूल्य–निरपेक्ष विषयनिष्ठता के साथ देख सकता है तब समाज की अनिवार्य मूल्यविषयता (वैल्यू–ऑब्जेक्टनेस) का क्या अर्थ है ? दयाजी कहते हैं कि समाजवैज्ञानिक मूल्यनिरपेक्ष भाव से समाज के लिए वैकल्पिक निदर्श (आल्टर्नेटिव मॉडल्स) या आदर्श प्रकारताएँ (आइडियल टाइप्स) कल्पित कर सकता है और तब समाज के नेता उनमें से अपनी पसन्द के अनुसार निदर्श का वरण कर सकते हैं। इस प्रकार वह ज्ञानात्मक स्तर पर बना रह

सकता है। हम दयाजी के इस प्रस्ताव का विरोध नहीं करना चाहते, हमें यह भी मालूम है कि उनके इस प्रस्ताव का अनुसरण बहुत लोग बड़े प्रयत्न से करते हैं। किन्तु हमारा प्रश्न है कि तब दयाजी के इस विचार का क्या होगा कि समाज आधारभूत रूप से मूल्य–विषय है और समाज के सम्बन्ध में कोई भी प्रज्ञप्ति अनिवार्यतः मूल्यात्मक होती है! दयाजी इस अन्तर्विरोध की स्थिति से निकलने के लिए एक रास्ता निकालते हैं। वे कहते है कि "आदर्श प्रकारता आदर्श के साथ संयुक्त हो जाएगी और वह कर्म के लिए मूल्यात्मक निर्देशक बनेंगी।" [74] इतना ही नहीं, वे आगे कहते हैं "किन्तु यह सोचना कि कोई समाजविज्ञानों में किसी आदर्श–प्रकारता की रचना उसके आदर्श में परिणत होने की संभावना का वरण करते हुए कर सकता है, समाज विज्ञानों की प्रकृति को नहीं समझना है। ..... हम 'आर्थिक मानव', 'कामी मानव', 'वर्ग–मानव', 'जाति–मानव', आदि आदर्श प्रकारताओं (आइडियल टाइप्स) की रचनाओं से परिचित ही हैं। फायड और मार्क्स बीसवीं शताब्दी के घरेलू नाम हैं।" [75–76] मान लें कि यह सही है, किन्तु–आदर्श प्रकारता के आदर्श में कार्यान्वित होने से आदर्श–प्रकारता की मूल्य निरपेक्षता में क्या अन्तर पड़ता है, और किसी प्रकारता के मूल्य में क्रियान्वित होने में क्या कोई तार्किक अनिवार्यता है ? यह क्रियान्वयन क्या केवल एक संयोगिक बात नहीं है?

किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि क्या उपयुक्त प्रकारता–रचनाएँ वास्तव में मूल्य–निरपेक्ष हैं? क्या ये गहरे मूल्यात्मक पूर्वाग्रहों, अथवा कहें विपर्यस्त पूर्वाग्रहों की उपज नहीं थीं? इसी प्रकार, क्या वैज्ञानिकता धार्मिकता से कम मूल्यात्मक है ? फिर चाहे वह कैसी भी मूल्यात्मकता क्यों नहीं हो। उदाहरणतः स्वातंत्र्य का मात्रा–परिमाण–योग्य वस्तु में रूपान्तरण और नापने के लिए मानदंड की खोज क्या कम कष्टसाध्य कार्य है? इसीलिए दयाजी ने यह कार्य किया भी नहीं है, केवल दूसरों को परामर्श दिया है कि उन्हें करना चाहिए। अब भला कोई यह कष्ट क्यों उठायेगा यदि उसके प्रति उसकी बहुत गहरी मूल्य–निष्ठा नहीं हो तो? किन्तु दयाजी से यहाँ हमारी दूसरी अपेक्षा है और वह यह कि वे यह बतायें कि वे समाज की मूलगामी मूल्यात्मकता–विषयक अपनी प्रतिपत्ति में और उसके मूल्य–निरपेक्ष वैज्ञानिक निर्धारण और वैकल्पिक निर्देशों के रूप में मूल्य–निरपेक्ष विषयकरण में कैसे संगति देखते हैं।

जैसाकि हमने दयाजी के समाज दार्शनिक चिन्तन की समीक्षा के प्रारंभ में कहा है कि, हमें दयाजी की समाज–विषयक दृष्टि पूर्णतः युक्त प्रतीत होती है, उसका विशदीकरण भी सामान्यतः युक्त ही प्रतीत होता है, किन्तु कहीं–कहीं उनसे हम अपने को असहमत पाते हैं। यहाँ हमने उन्हीं स्थलों पर अपना मत प्रस्तुत किया है जहाँ हम अपने को उनसे असहमत पाते हैं। लेकिन इस प्रकार की असहमति से उस विचार का महत्त्व कम नहीं होता बल्कि आगे बढ़ता है। फिर यह क्या कम महत्त्वपूर्ण है कि दयाजी सम्भवतः उस वर्ग के पहले दर्जे के व्यक्ति हैं जिन्होंने स्वातंत्र्योत्तर काल में अपने समाज दार्शनिक विमर्श को इतने आधारिक रूप में प्रस्तुत किया है। यह सम्भव है कि हमारी ये आलोचनाएँ पूर्णत

भ्रांतिमूलक हों, हमने दयाजी की युक्तियों को ठीक से समझा ही नहीं हो। ऐसा भी होता है कि हम किसी वस्तुस्थिति को जैसे देख रहे होते हैं वह उसका केवल एक पक्ष होता है और दूसरा उसका दूसरा पक्ष प्रस्तुत कर हमें चकित कर देता है। सम्भव है हम केवल यही कर रहे हों! परन्तु यदि हम अपने उपर्युक्त प्रयास में ऐसा ही करते रहे हैं तब भी हमने जो प्रश्न उठाये हैं, उसका उत्तर दयाजी और उनके उत्तर–पूर्व सहयात्री विचारकों से अवश्य अपेक्षित है।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *सोसल फिलॉसफी : पास्ट एण्ड फ्यूचर का अर्थ तो भविष्यत् या भावी होता है किन्तु इस पुस्तक में वास्तव में समाज दर्शन की भावी स्थिति का अनुमान नहीं दिया गया है बल्कि समाजविषयक आदर्श संकल्पना के स्वरूप पर विचार है।*
2. *आगे इस पुस्तक की चर्चा नाम के उल्लेख के बिना होगी, पुस्तक की पृष्ठ संख्या को सन्दर्भांकित किया जायेगा। कंसिडरेशन ..... पुस्तक की चर्चा उसके नाम के उल्लेख के साथ होगी।*
3. *(क) द्रष्टव्य यशदेव शल्य, संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या , अ. 2. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1969.*
   (ख) सत्ता विषयक अन्वीक्षा, अ. 11 और 12, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 1987.
4. *सत्ताविषयक अन्वीक्षा, अ. 11 तथा ज्ञान और सत् अ. 11, राजकमल प्रकाशन, 1967.*
5. *सत्ता विषयक अन्वीक्षा अ. 12*
6. *प्रकृति की अवधारणासापेक्षता के लिए हमारी पुस्तक संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या के पौराणिकता और प्राकृतिक विज्ञान अध्याय द्रष्टव्य।*
7. *जोहन रॉल्स – ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी, प्रेस, 1972.*

संगमलाल पाण्डेय की गहन-ज्ञानमीमांसा

अम्बिकादत्त शर्मा

अद्वैत वेदान्त की लोकोत्तर से लोकायन तक की दार्शनिक चेतना से अनुप्राणित प्र संगमलाल पाण्डेय की दर्शन–साधना पर विचार–विमर्श का शुभारम्भ करते हुए हम आपक ध्यान एक छोटी–सी पुस्तिका ''प्रॉब्लेम्स ऑफ डेथ ऐपिस्टेमोलॉजी'' की ओर आकृष करना चाहेंगे, जिसका सम्पादन उन्होंने 1987 में किया था। इस पुस्तिका में 1923 से 195 के मध्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन–विभाग से सम्बद्ध तीन वरिष्ठ आचार्यों– प्र पी.एस. बरेल्ल, प्रो. आर. डी. राणाडे, प्रो. ए.सी. मुखर्जी एवं इन तीनों आचार्यों से दीक्षि प्रो. आर.एन. कौल के एक–एक (कुल चार) निबन्धों का संकलन किया गया है। ''इसमें तीन निबन्धों का प्रकाशन पहली बार कभी ''यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीज''[1] में हुः था और प्रो. राणाडे का निबन्ध ''वेदान्त, द कल्मीनेशन ऑफ इण्डियन थॉट'' नामक पुस्त का कुछ अंश है। इस पुस्तक का सम्पादन प्रो. पाण्डेय ने 1970 में किया था। इसक सामग्री वे नोट्स रहे हैं जिनका संग्रह प्रो. पाण्डेय ने स्वनामधन्य आचार्य राणाडे के स अध्ययन के दौरान किया था। इस प्रकार ''प्रॉब्लेम्स ऑफ डेथ एपिस्टेमोलॉजी'' के स्र चाहे जो भी रहे हों, इसका सम्पादन एवं इसकी विस्तृत भूमिका को लिखने का कार्य पाण्डेय ने बड़े उत्साह के साथ किया है। यद्यपि इसमें संकलित चारों निबन्धों की प्रद विषय–वस्तु एवं प्रो. पाण्डेय की प्रस्तावना में दिखाये गये उनकी निष्पत्तियों के म सामरस्य को लेकर अनेक प्रश्न खड़े किये जा सकते हैं, तथापि प्रो. पाण्डेय की प्रस्ताव अपने–आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण इस अर्थ में कि प्रो. पाण्डेय ने पहली इस उत्साही भूमिका के माध्यम से ''तुलनात्मक ज्ञानमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में इलाहाब स्कूल ऑफ फिलॉसफी को ''डेथ एपिस्टेमोलॉजी'' अर्थात् ''गहन ज्ञानमीमांसा'' के रूप घोषित किया है।[2] प्रो. पाण्डेय अपने स्कूल की गहन ज्ञानमीमांसा को 1913 से 1953 बीच विकसित हुआ मानते हैं। यह बात बहुत सराहनीय है कि इसी परम्परा के एक य उत्तराधिकारी ''पूर्वांचल के किंवदन्ती'' प्रो. पाण्डेय का ध्यान इस ओर 1987 में गया संसदीय रूप से इसकी घोषणा हुई। इतने लम्बे अन्तराल में प्रतिनिधि रूप चार ही निब को प्रो. पाण्डेय ने अपनी गवेषणात्मक भूमिका के साथ संकलित किया है, यह भी चौंकाने वाली बात नहीं, जबकि इसकी पृष्ठभूमि में उन सभी आचार्यों एवं उनके परवर्

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण - ३

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

प्रधान सम्पादक : श्रीप्रकाश दुबे

भारतीय दर्शन के 50 वर्ष

***

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए प्रकाशित
भारतीय दर्शन के 50 वर्ष
सम्पादक : अम्बिकादत्त शर्मा

© प्रकाशक

ISBN 81-88289-15-9

प्रथम संस्करण 2006

मूल्य - 600/-

प्रकाशक -
विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
247 जवाहरगंज, सागर - 470002 (म.प्र.)
✆ 07582-243598

अक्षर संयोजन-

अनुक्रम

पुरोवाक् i

आभार vii

प्रस्तावना - स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के मूलभूत अर्थ-सन्दर्भ xi
: *अम्बिकादत्त शर्मा*

परिच्छेद : एक 1-46

स्वातंत्र्योत्तर भारत में दार्शनिक चिन्तन का भाषायी माध्यम

1.1 भारत में भारतीय भाषाओं का औचित्य 3
: *यशदेव शल्य*

1.2 हिन्दी के उन्नयन का अर्थ एवं सम्भावनाएँ 9
: *यशदेव शल्य*

1.3 हिन्दी माध्यम से भारतीय दर्शन का विकास 13
: *सूर्यप्रकाश श्रीवास्तव*

1.4 संस्कृत माध्यम से दार्शनिक चिन्तन की अर्द्धशती 35
: *रजनीश कुमार शुक्ल*

परिच्छेद : दो 47-122

भूत और भाव्य के बीच स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन

2.1 भारतीय दर्शन : सिंहावलोकन एवं भविष्यबोध 49
: *सुरेन्द्र बारलिंगे*

2.2 स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के प्रथम 25 वर्ष 61
: *नन्दकिशोर देवराज*

2.3 स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक चिन्तन की दिशा-दशा 69
: *हर्षनारायण*

2.4 स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक परिवेश 77
: *अशोक बोहरा*

2.5 स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन की अनुत्तर विवक्षा 91